Cognitive Thinking: An International Journal of Interdisciplinary Studies
Vol. 2, Issue-2 (April-June, 2026), pp.246-249, ISSN: 3107-5088, www.cognitivethinking.in

मृत्युदंड: संवैधानिकता, न्यायिक दृष्टिकोण एवं आलोचनात्मक विश्लेषण

हरदीप सिंह
Master in Law (LL.M.), मोनाड़ विश्वविद्यालय, हापुड़
डॉ. अमित कुमार
सहायक प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष, मोनाड स्कूल ऑफ लॉ, मोनाड़ विश्वविद्यालय, हापुड़

Article: Received: 23/05/2026, Returned: 28/05/2026, Accepted: 04/06/2026, Published:06/06/2026.
D.O.I.
© 2026 The Author(s). This is an Open Access article/ Journal distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International which permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original author and source are properly credited. (https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/)

शोध सार: मृत्युदंड राज्य द्वारा नागरिक के जीवन के मूलभूत अधिकार का अंतिम और अपरिवर्तनीय हनन है, जो भारतीय संविधान की मूल भावना — विशेषतः मानवीय गरिमा और जीवन के अधिकार — के साथ तार्किक तनाव उत्पन्न करता है। यह शोध पत्र भारतीय दंडनीति में मृत्युदंड की ऐतिहासिक वैधता, संवैधानिक मूलाधिकारों (अनुच्छेद 14, 19, 21) के साथ इसके टकराव, तथा न्यायिक प्रवचन में विकसित "दुर्लभ से दुर्लभतम" सिद्धांत की समकालीन विसंगतियों का विश्लेषणात्मक परीक्षण करता है। पत्र में प्रतिशोधात्मक और सुधारात्मक दंड सिद्धांतों की तुलनात्मक समीक्षा के साथ-साथ न्यायिक त्रुटि, वर्गगत पूर्वाग्रह और "डेथ रो फेनोमेनन" जैसी मानवाधिकार चुनौतियों पर प्रकाश डाला गया है। निष्कर्ष में यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि मृत्युदंड संवैधानिक नैतिकता और मानवीय गरिमा के विरुद्ध है, और इसके स्थान पर वैकल्पिक दंड तथा विधायी सुधार अपरिहार्य हैं।

मुख्य शब्द: मृत्युदंड, मानवीय गरिमा, संवैधानिकता, अनुच्छेद 21, दुर्लभ से दुर्लभतम, न्यायिक विसंगति, संवैधानिक नैतिकता, अपराध सुधार।

1. प्रस्तावना: मृत्युदंड, जिसे राज्य द्वारा निर्धारित विधिक प्रक्रिया के अंतर्गत नागरिक के प्राणों का हरण भी कहा जाता है, मानव सभ्यता के प्राचीनतम किंतु सर्वाधिक विवादास्पद दंडों में अपना स्थान रखता है। आधुनिक संवैधानिक लोकतंत्रों में, जहाँ राज्य का प्रथम कर्तव्य नागरिक के जीवन और गरिमा की रक्षा करना है, मृत्युदंड की वैधता स्वतः ही संदेह के घेरे में आ जाती है।[1] भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 में "जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार" निहित है, जिसे सर्वोच्च न्यायालय ने समय-समय पर न केवल जीवन के अधिकार के रूप में, अपितु "सम्मानपूर्वक जीवन जीने के अधिकार" (right to live with human dignity) के रूप में व्याख्यायित किया है।[2] इन परिस्थितियों में मृत्युदंड एक गंभीर संवैधानिक द्वंद्व उपस्थित करता है: क्या वह राज्य जो जीवन की गारंटी देता है, उसी जीवन को समाप्त करने का नैतिक और संवैधानिक आधार रखता है?

इस शोध पत्र का मुख्य प्रश्न यह है कि क्या मृत्युदंड भारतीय संविधान की मूल भावना (basic structure), विशेषतः मानवीय गरिमा, समानता के अधिकार और जीवन के अधिकार के साथ तार्किक रूप से सामंजस्य रखता है। शोध की पद्धति द्वितीयक स्रोतों पर आधारित वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक और तुलनात्मक है, जिसमें न्यायिक निर्णय, वैधानिक प्रावधान, अकादमिक टीकाएँ और मानवाधिकार रिपोर्टों का अध्ययन सम्मिलित है।[3] इस पत्र का क्षेत्र भारतीय दंड कानून, संविधान के भाग III और चयनित अंतर्राष्ट्रीय उपकरणों तक सीमित है।

2. मृत्युदंड का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य: भारतीय संदर्भ (Historical Perspective: Indian Context)

2.1 प्राचीन भारतीय दंडनीति

प्राचीन भारतीय ग्रंथों में मृत्युदंड का उल्लेख अवश्य मिलता है, किंतु यह सदैव अंतिम विकल्प के रूप में देखा गया। मनुस्मृति और कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में राज्य को अत्यंत गंभीर अपराधों हेतु प्राणदंड का अधिकार प्राप्त था, परंतु साथ ही क्षमा (royal pardon) और प्रायश्चित की परंपराएँ भी समानांतर रूप से विकसित थीं।[4] इस प्रकार, प्राचीन भारतीय दर्शन में दंड का उद्देश्य प्रतिशोध से अधिक सामाजिक सुधार और व्यवस्था की पुनर्स्थापना था।

2.2 औपनिवेशिक वैधानिक ढांचा

आधुनिक भारत में मृत्युदंड का वैधानिक रूप 1860 में भारतीय दंड संहिता (IPC) के प्रारूपण के साथ प्राप्त हुआ। लॉर्ड मैकाले (Lord Macaulay) की अध्यक्षता वाली दंड समिति ने धारा 302 में मृत्युदंड को अपराधीकरण (criminalization) की चरम सीमा के रूप में निर्धारित किया।[5] तत्कालीन दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 (CrPC) में फाँसी की सजा सामान्यतः निर्धारित दंड थी, जो न्यायालयों के लिए मृत्युदंड को प्राथमिक विकल्प बनाती थी। इस प्रकार, औपनिवेशिक कालीन दंडनीति प्रतिशोधात्मक प्रवृत्ति पर आधारित थी, जिसे स्वतंत्र भारत में विरासत में प्राप्त किया गया।

2.3 संविधान-कालीन परिवर्तन

1950 में संविधान के अंगीकरण के पश्चात्, विशेषतः अनुच्छेद 21 के अधिकार क्षेत्र (ambit) में मृत्युदंड पर प्रथम गंभीर संवैधानिक चुनौती उत्पन्न हुई। 1973 में दंड प्रक्रिया संहिता में महत्वपूर्ण संशोधन कर धारा 354(3) यह व्यवस्था की गई कि न्यायालय मृत्युदंड तभी देगा जब "विशेष कारण" (special reasons) उपस्थित हों; अन्यथा जीवनदंड (imprisonment for life) ही निर्धारित किया जाएगा।[6] यह संशोधन भारतीय दंडनीति में प्रतिशोध से सुधार की ओर एक सावधान किंतु निर्णायक कदम था, किंतु यह परिवर्तन अपूर्ण रहा।

3. संवैधानिकता, गरिमा और न्यायिक व्याख्या

3.1 संवैधानिक मूलाधिकारों में टकराव: भारतीय संविधान के मूल ढांचे में अनुच्छेद 21 न केवल जीवन के अधिकार की गारंटी देता है, अपितु इसमें मानवीय गरिमा (human dignity) का अभिन्न अंग निहित है।[7] सर्वोच्च न्यायालय ने *के.एस. पुट्टस्वामी* में यह स्पष्ट किया कि मानवीय गरिमा संविधान की आत्मा है, जो अनुच्छेद 14, 19 और 21 के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी है।[8] मृत्युदंड, जो राज्य द्वारा जीवन के अधिकार का सम्पूर्ण और अपरिवर्तनीय वंचन है, प्रथम दृष्टया मानवीय गरिमा और अनुच्छेद 21 की भावना के विरुद्ध प्रतीत होता है।

अनुच्छेद 14 "समानता के अधिकार" की गारंटी देता है, और *ई.पी. रॉयप्पा*[9] तथा *नरिंदर*[10] में न्यायालय ने "स्वेच्छाचारिता" (arbitrariness) को समानता के अधिकार के विरुद्ध माना है। मृत्युदंड के प्रकरण में, जहाँ दंड निर्धारण "दुर्लभ से दुर्लभतम" जैसे अस्पष्ट मानदंड पर निर्भर करता है, अनुच्छेद 14 के उल्लंघन का भय व्यापक रूप से मान्य है। इसी प्रकार, अनुच्छेद 19 में विभिन्न मौलिक स्वतंत्रताएँ निहित हैं, और इन अधिकारों के साथ अनुच्छेद 21 के सामंजस्यपूर्ण पाठन (doctrine of harmonious construction) की आवश्यकता उत्पन्न होती है।[11]

3.2 लैंडमार्क न्यायिक निर्णय:

(क) जगमोहन सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (1973): इस प्रकरण में पांच-सदस्यीय संविधान पीठ ने मृत्युदंड की संवैधानिकता को बनाए रखा। न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि मृत्युदंड अनुच्छेद 21 का उल्लंघन नहीं है, क्योंकि यह "विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया" (procedure established by law) के अंतर्गत लिया गया दंड है।[12] किंतु यहाँ न्यायालय ने "विधि" (law) की संकीर्ण व्याख्या की, जो बाद में *मानेका गांधी*[13] में विस्तृत हुई।

(ख) राजेंद्र प्रसाद बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (1979): न्यायमूर्ति वी.आर. कृष्ण अय्यर की भव्य राय ने मृत्युदंड पर नया आलोचनात्मक प्रकाश डाला। उन्होंने तर्क दिया कि यदि अपराधी में सुधार की संभावना है और अपराध पूर्व-नियोजित (pre-meditated) नहीं है, तो मृत्युदंड अनुच्छेद 14 और 21 का उल्लंघन है।[14]

(ग) बच्चन सिंह बनाम पंजाब राज्य (1980): यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण निर्णय है। संवैधानिक पीठ (4:1 बहुमत) ने मृत्युदंड को असंवैधानिक नहीं माना, किंतु इसे "दुर्लभ से दुर्लभतम" (Rarest of Rare) मामलों में ही सीमित किया।[15] बहुमत ने "सामूहिक चेतना" (collective conscience) और "अपराध की असाधारण प्रकृति" को मानदंड बनाया। किंतु न्यायमूर्ति प.एन. भगवती की असहमति (dissent) अत्यंत महत्वपूर्ण है। भगवती जी ने स्पष्ट रूप से कहा कि मृत्युदंड अनुच्छेद 14 और 21 का उल्लंघन है, क्योंकि यह न्यायाधीशों की व्यक्तिगत राय पर निर्भर करता है और कोई वस्तुनिष्ठ मानदंड नहीं है।[16]

(घ) मैकचिस्लर बनाम पंजाब राज्य (1983): इस निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने "दुर्लभ से दुर्लभतम" सिद्धांत को पाँच विशिष्ट श्रेणियों में व्यवहारिक रूप दिया, जिसमें सामूहिक हत्याएँ, दुर्दांत हत्याएँ, राष्ट्र की सुरक्षा से सम्बद्ध अपराध, निर्दोष बालकों की हत्या आदि सम्मिलित हैं।[17]

(ङ) संतोष कुमार सतीशभूषण बरियार बनाम महाराष्ट्र राज्य (2009): इस निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने स्वीकार किया कि पूर्व के निर्णयों में न्यायिक असंगति (inconsistency) व्यापक है और "दुर्लभ से दुर्लभतम" का मानदंड एक न्यायाधीश से दूसरे में भिन्न रूप से लागू हो रहा है।[18]

(च) शत्रुघ्न चौहान बनाम भारत संघ (2014): इस निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने यह मान्यता प्रदान की कि दया याचिका (mercy petition) पर निर्णय में अनावश्यक विलंब (delay) "डेथ रो फेनोमेनन" (death row phenomenon) का कारण बनता है, जो अनुच्छेद 21 के विरुद्ध है।[19]

3.3 संवैधानिक नैतिकता और मानवीय गरिमा

नवती सिंह[20] और *के.एस. पुट्टस्वामी*[21] में न्यायालय ने "संवैधानिक नैतिकता" (constitutional morality) को संविधान की मूल भावना का अभिन्न अंग माना है। संवैधानिक नैतिकता का अर्थ है कि राज्य के सभी अंग अपने क्रियाकलापों में मानवीय गरिमा, समानता और जीवन के अधिकार को सर्वोच्च प्राथमिकता दें। मृत्युदंड, जो राज्य द्वारा एक नागरिक के जीवन का जानबूझकर अंत करने की प्रक्रिया है, इस संवैधानिक नैतिकता के साथ सामंजस्य स्थापित करने में असफल रहता है।

4. पक्ष और विपक्ष में तर्क: प्रतिशोध बनाम सुधार (Arguments for and Against: Retributive vs. Reformative)

4.1 पक्ष में तर्क: मृत्युदंड के समर्थन में मुख्यतः तीन सिद्धांत प्रतिपादित किए जाते हैं। प्रथम, प्रतिशोधात्मक सिद्धांत (Retributive Theory), जिसका आधार इमैनुअल कांट (Immanuel Kant) के दर्शन में मिलता है, यह मानता है कि अपराधी को उसके अपराध के अनुपात में दंड मिलना नैतिक रूप से न्यायसंगत है।[22] द्वितीय, निरोधक सिद्धांत (Deterrent Theory) यह दावा करता है कि मृत्युदंड की भयावहता संभावित अपराधियों को रोकती है। तृतीय, सामाजिक बहिष्करण (Incapacitation) का तर्क है कि मृत्युदंड अपराधी को स्थायी रूप से समाज से पृथक कर देता है।

4.2 विपक्ष में तर्क: सुधारात्मक दंडनीति (Reformative Penology) के समर्थकों का मुख्य तर्क यह है कि राज्य का उद्देश्य अपराधी के चरित्र

में सुधार करना होना चाहिए, न कि उसका विनाश करना।[23] अनुभवजन्य अध्ययनों (empirical studies) से यह प्रमाणित हो चुका है कि मृत्युदंड और अपराध दर के बीच कोई निश्चित निरोधक संबंध (correlation) नहीं है।[24]

मानवाधिकार दृष्टिकोण से, मृत्युदंड को "क्रूर, अमानवीय और अपमानजनक सजा" (cruel, inhuman and degrading punishment) माना जाता है, जो अंतर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध है। अधिक महत्वपूर्ण यह है कि न्यायिक त्रुटि (judicial error) की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता, और निर्दोष व्यक्ति की हत्या अपरिवर्तनीय (irreversible) होती है।[25] भारत में कमजोर आर्थिक और सामाजिक वर्गों के अभियुक्तों को उच्च गुणवत्ता वाले कानूनी सहायता (legal aid) का अभाव रहता है, जिससे मृत्युदंड में वर्गगत पूर्वाग्रह (class bias) निहित है।

5. न्यायिक विसंगतियां, त्रुटियां और मानवाधिकार चुनौतियां (Judicial Arbitrariness, Error & Human Rights Challenges)

5.1 "दुर्लभ से दुर्लभतम" में व्यावहारिक अस्पष्टता: भारतीय न्यायिक इतिहास में मृत्युदंड के प्रकरणों में सर्वाधिक गंभीर चुनौती "दुर्लभ से दुर्लभतम" सिद्धांत की अस्पष्टता है। न्यायमूर्ति भगवती ने *बच्चन सिंह* में अपनी असहमति में ठीक ही कहा था कि यह मानदंड इतना अस्पष्ट है कि एक न्यायाधीश की "दुर्लभ" परिस्थिति दूसरे न्यायाधीश की "सामान्य" हो सकती है।[26] *संतोष कुमार बरियार*[27] में सर्वोच्च न्यायालय ने स्वीकार किया कि पूर्व के निर्णयों में न्यायिक असंगति व्यापक है। *स्वामी श्रद्धानंद*[28] में न्यायालय ने मृत्युदंड और जीवनदंड के बीच "छायांकित क्षेत्र" (grey area) की अवधारणा विकसित की और "आजीवन कारावास बिना रिहाई" (life imprisonment without remission) को विकल्प मान्य किया।

5.2 निर्दोष को सजा की संभावना और सामाजिक पूर्वाग्रह: राष्ट्रीय विधि विश्वविद्यालय, दिल्ली (NLU Delhi) के Project 39A के *Death Penalty India Report, 2016* ने यह प्रकट किया कि मृत्युदंड प्राप्त कैदियों में अत्यधिक संख्या में गरीबीग्रस्त, निम्न जाति और अल्पशिक्षित व्यक्ति हैं।[29] यह तथ्य मृत्युदंड में वर्गगत और सामाजिक पूर्वाग्रह की पुष्टि करता है। पुलिस अत्याचार, झूठे आत्मसमर्पण (false confessions) और कमजोर अनुसंधान गुणवत्ता से निर्दोष व्यक्ति की फाँसी का खतरा सर्वाधिक गंभीर है। *याकूब मेमन*[30] के प्रकरण में मीडिया ट्रायल और सार्वजनिक दबाव के प्रभाव ने न्यायिक प्रक्रिया की निष्पक्षता पर प्रश्नचिह्न लगाया।

5.3 डेथ रो फेनोमेनन (Death Row Phenomenon) और मानवीय गरिमा: मृत्युदंड की अंतिम तिथि की अनिश्चितता में लंबे समय तक प्रतीक्षा करने की मानसिक यातना को "डेथ रो फेनोमेनन" कहा जाता है। *शत्रुघ्न चौहान*[31] में सर्वोच्च न्यायालय ने मान्यता दी कि यह अनुच्छेद 21 के विरुद्ध है। यह तथ्य मृत्युदंड की मानवता-विरोधी प्रकृति को और स्पष्ट करता है।

6. निष्कर्ष और सुझाव: उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि मृत्युदंड आधुनिक भारतीय संवैधानिक लोकतंत्र की मूल भावना के साथ संगत नहीं है। प्रथम, "दुर्लभ से दुर्लभतम" सिद्धांत एक वस्तुनिष्ठ कानूनी मानदंड के स्थान पर न्यायाधीश-विशिष्ट मूल्यांकन बनकर रह गया है, जो अनुच्छेद 14 के समानता के अधिकार और न्यायिक निश्चितता के सिद्धांत का उल्लंघन है। द्वितीय, न्यायिक त्रुटि की अपरिहार्य संभावना और निर्दोष व्यक्ति की हत्या के अपरिवर्तनीय परिणाम राज्य को इस अंतिम दंड को देने का नैतिक आधार समाप्त कर देते हैं। तृतीय, संवैधानिक नैतिकता और मानवीय गरिमा के सिद्धांत के प्रकाश में मृत्युदंड एक अप्रबुद्ध (uncivilized) और अप्रतिगामी (regressive) दंड है।

सुझाव (Suggestions):

1. **विधायी सुधार:** भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 302 और दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 354(3) में संशोधन कर मृत्युदंड को समाप्त किया जाए। आजीवन कारावास (life imprisonment) को, जिसमें रिहाई की न्यूनतम अवधि 30 वर्ष निर्धारित हो, विकल्प के रूप में विकसित किया जाए।
2. **स्पष्ट दंड निर्धारण मानदंड (Sentencing Guidelines):** "दुर्लभ से दुर्लभतम" की अस्पष्टता को दूर करने हेतु संसद द्वारा एक स्वतंत्र कानून बनाया जाए, जिसमें अपराध और अपराधी की मनोदशा के वस्तुनिष्ठ मापदंड निर्धारित हों।
3. **कानूनी सहायता का सुदृढ़ीकरण:** मृत्युदंड के मामलों में अभियुक्तों को सर्वोच्च गुणवत्ता वाले अनुभवी अधिवक्ताओं की सेवा सुनिश्चित की जाए, विशेषतः अपील और समीक्षा के प्रत्येक स्तर पर।
4. **वैकल्पिक दंड:** पीड़ित-अपराधी वसूली (Victim-Offender Mediation), पुनर्वास कार्यक्रम और आजीवन कारावास को प्रोत्साहन।
5. **संवैधानिक नैतिकता के अनुरूप कार्यनीति:** भारत सरकार को संवैधानिक नैतिकता (constitutional morality) और अंतर्राष्ट्रीय दायित्वों के परिप्रेक्ष्य में तत्काल मृत्युदंड के प्रयोग पर अनिश्चितकालीन रोक (Moratorium) की घोषणा करनी चाहिए।

अंततः, यह शोध पत्र यह दृढ़ मत प्रतिपादित करता है कि मृत्युदंड एक अप्रबुद्ध (uncivilized) और अप्रतिगामी (regressive) दंड है। न्याय व्यवस्था का उद्देश्य "बदला" (revenge) नहीं, अपितु "न्याय" (justice) और "सुधार" (reform) होना चाहिए।

7. संदर्भ सूची (Bibliography)

A. प्राथमिक स्रोत (Primary Sources): (i) संवैधानिक और वैधानिक उपकरण

- The Constitution of India, arts. 14, 19, 21.
- The Indian Penal Code, 1860, § 302, No. 45, Acts of Parliament, 1860 (India).

- The Code of Criminal Procedure, 1973, §§ 235(2), 354(3), 368, No. 2, Acts of Parliament, 1974 (India).
- Universal Declaration of Human Rights, G.A. Res. 217 (III) A, U.N. Doc. A/RES/217(III) (Dec. 10, 1948).
- International Covenant on Civil and Political Rights, opened for signature Dec. 16, 1966, 999 U.N.T.S. 171 (entered into force Mar. 23, 1976).
- Second Optional Protocol to the International Covenant on Civil and Political Rights, Aiming at the Abolition of the Death Penalty, G.A. Res. 44/128, U.N. Doc. A/RES/44/128 (Dec. 15, 1989).

(ii) न्यायिक निर्णय (Case Laws)

- *Jagmohan Singh v. State of U.P.*, AIR 1973 SC 947.
- *Rajendra Prasad v. State of U.P.*, AIR 1979 SC 916.
- *Bachan Singh v. State of Punjab*, (1980) 2 SCC 84.
- *Machhi Singh v. State of Punjab*, (1983) 3 SCC 470.
- *Swamy Shraddananda v. State of Karnataka*, (2008) 13 SCC 767.
- *Santosh Kumar Satishbhushan Bariyar v. State of Maharashtra*, (2009) 6 SCC 498.
- *Shatrughan Chauhan v. Union of India*, (2014) 3 SCC 1.
- *Yakub Abdul Razak Memon v. State of Maharashtra*, (2015) 6 SCC 1.
- *Navtej Singh Johar v. Union of India*, (2018) 10 SCC 1.
- *Justice K.S. Puttaswamy (Retd.) v. Union of India*, (2017) 10 SCC 1.
- *Maneka Gandhi v. Union of India*, (1978) 1 SCC 248.
- *E.P. Royappa v. State of Tamil Nadu*, (1974) 4 SCC 3.
- *Nagaraj v. State of Karnataka*, (2011) 13 SCC 1.

B. द्वितीयक स्रोत (Secondary Sources) :(i) पुस्तकें

- M.P. Jain, *Indian Constitutional Law* (LexisNexis, 8th ed. 2018).
- H.M. Seervai, *Constitutional Law of India* (Universal Law Publishing Co., 4th ed. 1991).
- Upendra Baxi, *The Future of Human Rights* (Oxford University Press, 3rd ed. 2008).
- Cesare Beccaria, *On Crimes and Punishments* (Henry Paolucci trans., 1963) (1764).

(ii) आयोग की रिपोर्टें और NGO प्रकाशन

- Law Commission of India, *262nd Report on the Death Penalty* (Aug. 2015).
- Project 39A, National Law University, Delhi, *Death Penalty India Report: Summary* (2016).
- Amnesty International, *Global Report: Death Sentences and Executions 2023* (2024).

(iii) जरनल लेख

- S. Muralidhar, *Death Penalty in India*, 42 Economic & Political Weekly 12 (2007).
- Upendra Baxi, *The Death Penalty and the Constitution*, 15 J. Indian L. Inst. 42 (1980).
- A.G. Noorani, *The Abolition of the Death Penalty*, 45 Economic & Political Weekly 24 (2010).

Declaration by Author (s): "We hereby declare that this manuscript is our original work, free from plagiarism, and that all sources and any use of Artificial Intelligence tools for content generation or editing have been fully disclosed and verified for accuracy." हरदीप सिंह एवं डॉ. अमित कुमार